धर्म और समाज के फंदे में फंसी ज़िंदगी

रूपम मिश्र

'ज़िंदगी तमाशा' एक ऐसी फिल्म है, जो धार्मिक कट्टरता, सामाजिक हिंसा और पारिवारिक सत्ता जैसे जाने कितने सरोकारों, सवालों पर लाकर असहाय-सा छोड़ देती है। आख़िर यह कैसा ढाँचा है, जिसमें मनुष्य को मनुष्य न मानकर इसका कल-पुर्जा मात्र समझा जाता है। उस बने-बनाये ढाँचे से वो ज़रा भी बगल होता है, तो यह सामाजिक तंत्र उसके जीवन को तमाशा बना देता है। क्या इसी अमानवीय ढाँचे के लिए मुक्तिबोध ने कहा था, 'ढाँचा बदलो।' फिल्म 'ज़िंदगी तमाशा' देखते हुए लगातार यह बात मन में चलती रही कि आख़िर उस इंसान की ग़लती क्या थी। क्या जीवन जीना ही उसकी ग़लती थी। क्या पल भर अपने एक प्यारे से शौक़ को, हुनर को जीना ही ग़लती थी। कला मनुष्य को और मनुष्य बनाती है, लेकिन धर्म और समाज तय करता है कि कौन सी कला किसके लिए बनी है। अगर आप उसके बने-बनाये मानदंडों पर नहीं चलते तो वे आपके जीवन को तमाशा बना देंगे।

'ज़िंदगी तमाशा' पाकिस्तान के फिल्मकार सरमद खूसट की फिल्म है। पाकिस्तान के कट्टरपंथियों ने इसका बहुत विरोध किया। तीन साल तक पाकिस्तान में यह रिलीज़ नहीं हो पाई, अंततः हार कर सरमद खूसट ने इसे डिजिटल प्लैटफॉर्म पर डाल दिया। इसे यूटयूब पर भी देखा जा सकता है। फिल्म की कहानी में मुख्य किरदार हैं अधेड़ उम्र के राहत ख़्वाजा साहब, जो शहर के प्रतिष्ठित व्यक्ति होने के साथ एक शायर भी हैं। वो अल्लाह की इबादत के कलाम महफ़िलों में गाते हैं। राहत साहब एक बेहद ज़िम्मेदार पिता, पति और एक सभ्य नागरिक हैं। समाज में उनकी प्रतिष्ठा है। उनके आसपास के सारे लोग उनके मिलनसार स्वभाव और उनकी सहजता, सज्जनता से प्रभावित हैं। राहत साहब की ज़िंदगी में उनकी बेहद प्यारी सी पत्नी फ़रखन्दा हैं, जो कि पैरालिसिस से ग्रस्त होकर बिस्तर पर हैं। राहत ख़्वाजा अपनी पत्नी की सेवा बेहद मन से करते हैं, अपनी बेटी से बहुत प्यार करते हैं।

जीवन एकदम ठीक-ठाक चल रहा था कि राहत ख़्वाजा साहब एक दोस्त के बेटे की शादी में शरीक होने गए। बचपन के उनके सारे दोस्त वहाँ इकट्ठा थे। सब दोस्त मिलकर बचपन को याद करने लगे तो ज़ाहिर सी बात है, बचपन के खेल और शौक़ भी याद आये। राहत साहब ने बताया कि एक बार बचपन में उन्होंने कमरे में 'ज़िंदगी तमाशा' गाने पर डांस किया और पिता ने देख लिया तो उन्होंने राहत साहब की बहुत पिटाई की। इस बात पर राहत साहब के एक दोस्त ने इसरार किया कि आज वो इसी गाने पर डांस कर दें। दोस्तों के इसरार को राहत साहब एकदम टाल न सके। उन्होंने उठकर अपने मनपसंद गाने पर डांस कर दिया।

राहत साहब को डांस करना बचपन में बहुत पसंद था। वहाँ मौजूद लोगों में किसी ने उनके डांस का वीडियो बना लिया और वीडियो बनाकर इंटरनेट पर अपलोड कर दिया। बस यहीं से शुरू होती है राहत साहब के जीवन की यातना। यहीं से उनकी ज़िंदगी धीरे-धीरे एक तमाशा बनने लगी। जीवन में उन्होंने इस दु:ख की कभी कल्पना नहीं की होगी, जो उस पल ऐसे दाख़िल हो गया कि जीवन की त्रासदी बन गया। फिर घटनाएं घटती चली गयीं और वह असहाय, हैरान बस देख सकते थे। उस पर उनका कोई ज़ोर नहीं था। एक ऐसा दु:ख, जिसमें लाचार मनुष्य बस सोचता रहता है कि आख़िर उसकी ग़लती क्या है। राहत साहब की ग़लती यह थी कि उन्होंने जिस 'ज़िंदगी तमाशा' गाने पर डांस किया था उसके हाव-भाव और भंगिमाएं सब स्त्रियों की थी और राहत साहब पुरुष थे, वो भी एक अधेड़ उम्र के पुरुष। भला ऐसे अपराध को पितृसत्तात्मक समाज कैसे माफ़ कर सकता था!

वीडियो वायरल हो जाता है तो राहत साहब की बेटी उनसे नाराज़ हो जाती है। वो बेटी जो पढ़ी-लिखी है, आधुनिक

कामकाजी है, जो पिता पर गर्व करती रही है, उन्हें अपना आदर्श मानती आई है, वही पिता से इसलिए मुँह फेर लेती है कि उन्होंने अपने मनपसंद गाने पर डांस कर दिया है। लोग इतने नाराज़ हो जाते हैं राहत साहब से कि कोई उन्हें उनकी बीवी की कब्र कहाँ पर है, नहीं बताता। उनके जानने वाले उनसे किनारा करने लगते हैं, मोहल्ले वाले बात नहीं करते, उन्हें किसी समारोह में नहीं बुलाया जाता, जाते हैं तो लोग उन्हें शिरकत नहीं करने देते। राहत साहब एक ज़िंदादिल इंसान हैं, इतना सब-कुछ होने के बावजूद जीवन जीना चाहते हैं। उन महफ़िलों में जाकर गाना चाहते हैं, जहाँ वे हमेशा से गाते आ रहे हैं, लेकिन लोग उनसे ऐसा व्यवहार करते हैं जैसे उन्होंने नाचकर कोई जघन्य अपराध कर दिया है।

फिल्म के कितने दृश्य हैं जिसमें तकलीफ़ जैसे दृश्य के रंग की तरह पैबंद है। एक दृश्य में महफ़िल से उदास और निराश दु:ख में डूबे राहत साहब जब घर पहुँचते हैं तो फ़रखन्दा पूछती है कि 'महफ़िल कैसी रही?' उम्र भर अपनी नातों से ऐसी महफ़िलों को आबाद करते रहे राहत ख़्वाजा जानते हैं कि मृत्यु शय्या पर पड़ी उनकी बीवी, जो दुनिया में सबसे ज्यादा उन्हें समझती है, सचाई बर्दाश्त नहीं कर पाएगी। वह महफ़िल में हुए अपने अपमान की बात उन्हें नहीं बता सकते। एक असहनीय पीड़ा में हैं राहत साहब। इतना दु:ख… जैसे अभी तक कलेजा ही धधक रहा है लेकिन बीवी को इस बाबत कुछ बताया नहीं जा सकता। अपनी पीड़ा पी लेने का वो अद्भुत दृश्य था, जिसमें अपमान के साथ झूठ बोलने की मजबूरी का दु:ख और इस बात का कि यह झूठ उन्हें अपनी उस बीवी से बोलना पड़ रहा है, जिसने मरणांतक बीमारी में भी कभी झूठ का सहारा नहीं लिया।

राहत ख़्वाजा और फ़रखन्दा के चेहरे पर दु:ख की ये सभी परतें एक साथ दिखाई देती हैं। दोनों उस पीड़ा को साथ झेल रहे हैं। महफ़िल से राहत साहब को अपमानित करके निकाला गया, उन्हें नात गाने नहीं दिया गया, फ़रखन्दा सब कुछ समझ जाती हैं। लेकिन उन्हें राहत साहब को यकीन दिलाना है कि उन्हें उनकी बातों पर कोई शक नहीं है, पूरा भरोसा है। वह सहन नहीं कर पाएंगे कि फ़रखन्दा को उनके अपमान का अनुमान हो गया है। इसलिए वह झूठ बोलती हैं, कहती हैं, मुझे सब कुछ सुनाई दे रहा था। मैने अपने कानों से आपकी नात सुन ली है।

उस दृश्य में संवाद भी जैसे दु:ख में डूबे थे। राहत साहब पूछते हैं, 'कैसा था?' फ़रखन्दा कहती है, 'बहुत बढ़िया।' उसके चेहरे पर गहरी पीड़ा, झूठ और सच की हर एक परत अलग-अलग दिखाई देती है। दोनों साथी दु:खों को ओढ़े जैसे अलग-अलग अकेले में रोते हैं। आप जिस समाज में रहते आये हैं, जिसमें आपका जीवन चलता आया हो, जो लोग आपको अपने लगते हैं, वही एक दिन आपको घृणा की नज़र से देखने लगते हैं, जबकि आपने कोई गुनाह नहीं किया, किसी को चोट नहीं पहुँचाई।

राहत साहब हर ईद पर मोहल्ले में हलवा बनाकर उसे नान के साथ घर-घर बाँटते थे। लोग बहुत चाव से उनका बनाया हुआ हलवा खाते थे, इस बार भी वह हलवा बनाकर बाँटने जाते हैं, पर अब कोई भी उनका बनाया हुआ हलवा नहीं लेता। वह वहीं खड़े दु:ख में जैसे गले तक डूबने लगते हैं कि सड़क किनारे बैठा एक किन्नर उनका दर्द समझता है और वो उनके हाथों से नान और हलवे की टोकरी लेकर गली में खेलते बच्चों में बाँट देता है।

समाज हमारा नहीं है, अपने बनाये गये मापदंडों का है। हम कैसे समाज में जीते हैं, कैसे परिवार में जीते हैं जो धर्म और एक सामाजिक रहन-सहन के दायरे में बंधकर संगीन अपराध करते हुए मनुष्य को जीते जी मार देता है। राहत साहब के दु:ख को किसी ने नहीं समझा, बिस्तर पर पड़ी उनकी बीवी फ़रखन्दा के सिवाय। वो ही एक ऐसी मनुष्य है जो मन से उनके साथ है, राहत साहब के नाचने से वो नाराज़ नहीं हुई, उनकी आलोचना नहीं करती। अपने पति के मन में चलते झंझावातों से बख़ूबी परिचित है लेकिन बीमार होने की वजह से इतनी लाचार है कि कुछ कर नहीं पाती।

हम जिस समाज के कारण अपने शौक़, अपनी ख़ुशियों को नहीं जीते उसके दोहरे चरित्र को जानते हैं। फिल्म में इस दोहरेपन को बड़ी बेबाकी से सामने रखा गया है। राहत ख़्वाजा अपने डांस पर शर्मिंदा नहीं हैं, वह जानते हैं कि उन्होंने कोई गुनाह नहीं किया है फिर भी बेटी और समाज को ख़ुश रखने के लिए माफ़ीनामा पढ़ने के लिए तैयार हो जाते हैं। वह क़ाज़ियों के लिखे माफ़ीनामे को पढ़ते हैं। अपने डांस को ग़लाज़त भरी हरकत भी कह देते हैं। इसी बीच क़ाज़ी जाहिलियत और झूठ की हद पार करने लगता है, तब राहत साहब को क्रोध आ जाता है और वो क़ाज़ियों के कुकर्मों को कह देते हैं। धर्मगुरुओं के यौन-अपराध को कौन नहीं जानता। जाने कितने धर्मगुरुओं पर बच्चों के यौन उत्पीड़न का आरोप है। वो क़ाज़ी से कहते हैं 'बच्चेबाज़ी (बाल-यौन-उत्पीड़न) करते तुम्हें शर्म नहीं आती।' इसी बात पर क़ाज़ी भड़क

जाता है। राहत साहब और क़ाज़ी में हाथापाई हो जाती है। राहत साहब की बेटी और नाराज़ हो जाती है। राहत साहब एकदम से अकेले पड़ जाते हैं।

फिल्म देखते हुए लगातार दिमाग़ में यह बात चलती रही कि इसे लेकर पाकिस्तान के कट्टरपंथी वर्ग में इतना आक्रोश क्यों हुआ। क़ाज़ी और राहत साहब की झड़प का दृश्य देखने के बाद समझ में आ गया कि फिल्म का यही प्रसंग है, जिसने पाकिस्तान में इसे रिलीज नहीं होने दिया। मानवीय संवेदनाओं और मूल्यों पर बनी इस बेहतरीन फिल्म को विदेशों के फिल्म फेस्टिवल्स में कई अवार्ड मिले हैं। यह एक अछूते विषय पर बेहतरीन फ़िल्म है। इसमें हर दृश्य अपनी बात कहता है और आख़िरी दृश्य तो जैसे शोक और रुलाई का, कभी न भूलने वाली मर्मांतक पीड़ा का दृश्य है। मन को जैसे इंतज़ार रहता है आख़िर तक बेटी आकर अकेले, असहाय पड़ गये पिता के गले लग जाएगी और माफ़ी माँगेगी अपने बुरे सुलूक के लिए। लेकिन ऐसा नहीं हुआ क्योंकि यह यथार्थ में कहाँ होता है। यह तो हमारी फैंटेसी है। हम सुन्दर समाज का स्वप्न देखते हैं और ताक़तवर कट्टरपंथी वर्ग उसे लगातार कुचलता चला जा रहा है।

कैसी विडंबना है कि सरहदें मनुष्य को प्रतिबंधित करती हैं, जबकि धार्मिक कट्टरता, लैंगिक भेदभाव जैसी बुराइयां दोनों देशों में समान रूप से रहती हैं, फलती-फूलती हैं। राजनीति अपने स्वार्थ के लिए ऐसी बुराइयों को सींचती है। उन्हें बल देती है। मनुष्य को एक अभिशप्त जीवन जीने के लिए मजबूर करती है। सांस्कृतिक कट्टरता और धार्मिक अंधवाद ऐसे ही निरपराध जीवन को कुचल देते हैं, मनुष्य को मनुष्य से अलग कर देते हैं। हँसता-मुस्कुराता मनुष्य का जीवन कुचला जाता है और वह खड़ा देखता रह जाता है। साम्प्रदायिकता की राजनीति हमेशा ऐसे अवसरों को भुनाती है। समाज को बाँट कर मनुष्य को असहाय और अकेला कर देती है।

(लेखिका हिंदी की चर्चित कवयित्री और टिप्पणीकार हैं)